

जैन मुनि और वस्त्र-परम्परा

□ मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'

(युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के शिष्य)

मुनि के वस्त्रों के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं। एक परम्परा मुनि को वस्त्र धारण करने का निषेध करती है और दूसरी उसका विधान। एक परम्परा के अनुयायी अपने को दिगम्बर मानते हैं और दूसरी के अनुयायी श्वेताम्बर। प्रथम आचारांग के आठवें अध्ययन में वस्त्रों की चर्चा है। वहाँ मुनि के लिए तीन वस्त्र, दो वस्त्र, एक वस्त्र और अचेलता का विधान है। वस्त्रों के ये चार विभाग यथेच्छ नहीं हैं, इनके पीछे साधना की विस्तृत प्रक्रिया है। वस्त्र के साथ पात्र, आहार विधि, चर्या तथा पण्डितमरण का दिग्दर्शन है। ऐसा मानना चाहिए कि वस्त्रों के ये चार विभाग साधना की चार भूमिकाएँ हैं।

साधना के अभ्यास से कष्ट-सहिष्णुता बढ़ती है। सहिष्णुता से आत्म-शक्ति जागृत होती है और उससे साधना का स्तर ऊँचा उठता है। ज्यों-ज्यों साधना सधती जाती है, वस्त्रों का अल्पीकरण होता जाता है, या यों कहना चाहिए कि वस्त्रों के अल्पीकरण या त्याग से लाभ आता है। बाह्य परीषहों को सहने की क्षमता बढ़ती है।

सहिष्णुता से आन्तरिक वृत्तियों में भी लघुता आती जाती है। इसीलिए अप्रत्यक्ष रूप से वस्त्रों का साधना के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। टीकाकार के अनुसार प्रथम भूमिका में साधना करने वाले प्रतिमा-स्वीकृत स्थविर मुनि होते हैं। इस भूमिका में साधना करने वाले प्रतिमा-स्वीकृत मुनि के लिए तीन वस्त्रों का कल्प है। सामान्यतः शीष्म-ऋतु में साधक को अचेल रहने का विधान है। साधना की परिपक्वता न हो तो वह एक वस्त्र रख सकता है। शीत-ऋतु में शीत जब चढ़ता है तो दूसरा सूत का वस्त्र ले सकता है। वस्त्र का आयाम और विष्कम्भ ढाई हाथ का होता है। शीत की मात्रा और बढ़ती है तो साधक एक ऊन का वस्त्र फिर स्वीकार कर सकता है। इस पर भी शीत सताए तो उसे सहन करता है, लेकिन चौथे वस्त्र की इच्छा नहीं करता। शीत-ऋतु का जब उतार होने लगे तो उस समय वह सान्त्वोत्तर या अघोचेलक हो जाता है। याने क्रमशः वस्त्रों का त्याग करता चला जाता है। पुराने जीर्ण वस्त्रों को परठ देता है, मजबूत को पास में रख लेता है। अचेलक बनने में सक्षम हो तो अचेलता स्वीकार करता है, अन्यथा एक वस्त्र पास में रख सकता है, यहाँ अचेलता का अर्थ कटिबंध से है।

इस भूमिका के साधकों में निम्न प्रतिज्ञाएँ होती हैं—

१. कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरे साधकों को आहार आदि लाकर दूँगा और उनके द्वारा लाया गया आहार आदि लूँगा।
२. कोई यह प्रतिज्ञा लेता है कि मैं दूसरों को आहार आदि लाकर दूँगा पर उनके द्वारा लाया गया स्वीकार नहीं करूँगा।
३. कोई यह प्रतिज्ञा लेता है कि मैं दूसरों को आहार आदि लाकर नहीं दूँगा पर उनके द्वारा लाया गया आहार स्वीकार करूँगा।

४. कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं न तो दूसरों को आहार आदि लाकर दूँगा और न उनके द्वारा लाया गया आहार स्वीकार करूँगा।

परिहारविशुद्धि की साधना में चलने वाला मुनि विकृष्ट तप या रोग के कारण अशक्त हो जाए तो उस समय वह साधर्मिक की अपनी प्रतिज्ञा अनुसार सेवा लेता हुआ भक्तपरिज्ञा अनशन के द्वारा अपने शरीर का त्याग कर दे। भक्तपरिज्ञा अनशन में केवल आहार और कषाय का त्याग होता है।

तीसरी भूमिका में साधक एक वस्त्र और एक पात्र को स्वीकार करता है। शीत-ऋतु की समाप्ति पर यदि वह सक्षम हो तो अचेल हो जाता है, अन्यथा एक वस्त्र रखता है।

साधना काल में किसी कारणवश साधक के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाए तो वह दूसरों के सहाय की अपेक्षा न कर एकत्व भावना का चिन्तन करता है। ये कर्म मैंने ही किये थे और इसका परिणाम मुझे ही भोगना पड़ेगा।

एगो अहमंसि न मे अत्थि कोइ
न याहमवि कस्सइ,
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा

“मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ”—इस प्रकार एकत्व भावना का आलम्बन ले समभाव से रोग को सहन करता है। इस भूमिका का साधक अस्वादवृत्ति की साधना करने के लिए आहार के कवल को दाँए से बाँए तथा बाँए से दाँए जबड़े में नहीं ले जाता है। रूक्ष आहार से कोई रोग उत्पन्न हो, शरीर की शक्ति शिथिल दिखाई दे और साधना के क्रियानुष्ठान में अपने को असमर्थ देखे तो वह साधक आर्यबिल तप के द्वारा अपने आहार को संक्षिप्त कर देता है। फलकवत् सहनशील बनकर इंगिनीमरण के लिए अपने को समर्पित कर देता है। इंगिनी-मरण में भूमि की मर्यादा होती है, उससे बाहर वह आवागमन नहीं करता।

चतुर्थ भूमिका के साधक गच्छ-निर्गत प्रतिमा-स्वीकृत मुनि होते हैं। ये अचेल होते हैं और पात्र भी नहीं रखते। यहाँ वस्त्र के साथ पात्र का भी त्याग हो जाता है। उनकी कष्ट-सहिष्णुता भी बढ़ जाती है। शीत-स्पर्श, उष्ण-स्पर्श, तृण-स्पर्श और डंसमंस आदि स्पर्श भी सहन करने में वे अपने को समर्थ देखते हैं। जो साधक अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से अपने को प्रभावित होने नहीं देता, वही इस भूमिका में साधना कर सकता है। सामान्यतः साधक निर्वस्त्र रहता है लेकिन जो लज्जा को जीतने में समर्थ नहीं होता, वह कटिबंध रखता है और उसका उपयोग शहर या गाँव में भिक्षा लाने के समय करता है। प्रतिमा-स्वीकृत मुनि इन चार अभिग्रहों में से एक को स्वीकार करता है। वे ये हैं—

१. मैं अशन आदि लाकर दूसरों को दूँगा और उनके द्वारा लाया गया स्वीकार भी करूँगा।
२. मैं अशन आदि लाकर दूसरों को दूँगा पर उनके द्वारा लाया गया स्वीकार नहीं करूँगा।
३. मैं अशन आदि न तो लाकर दूसरों को दूँगा और न उनके द्वारा लाया गया स्वीकार करूँगा।
४. मैं अशन आदि दूसरों को लाकर नहीं दूँगा पर उनके द्वारा लाया गया स्वीकार करूँगा।

इस भूमिका में मुनि अपने को रोग से ग्रस्त देखे तो उस समय तृणों की याचना करता है। तृणों को ले एकान्त में जाकर भूमि की प्रतिलेखना कर निर्जीव स्थान पर उन्हें बिठाता है। सिद्धों की साक्षी से पाँच महाव्रत का आरोपण करता है और चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। पादपोगपमन अनशन में शरीर के अंग तथा उपांग का संकोच और विस्तार नहीं होता। निषण्ण या शयन जिस अवस्था में प्रारम्भ करता है, अन्त तक उसी अवस्था में रहता है। दृष्टि संचालन आदि सब काय-योग, वचन-योग और अप्रशस्त मनोयोग का निरोध करता है।



साधना की ये चार भूमिकाएँ थीं। जो साधक अपने को परिहारविशुद्धि, यथालंघिक, जिनकल्पिक आदि जिस साधना के योग्य पाता है, वह उसी साधना में अपने को लगा देता है। वस्त्रों का सम्बन्ध साधना के साथ संयुक्त था, इच्छानुसार उनका व्यवहार नहीं होता था। लक्ष्य सब का अचेलता की ओर था। स्थानांग सूत्र में पाँच कारणों से अचेलता को प्रशस्त माना है। अचेलता से तप और इन्द्रियनिग्रह होता है। वस्त्रों की अल्पता से आन्तरिक वृत्तियों में लाघव आता है। बाह्य परिग्रह का प्रतिबिम्ब अन्तर में भी पड़ता है। वस्त्रों के प्रति आवश्यकता जितनी कम होगी, उतना ही ममत्व का विसर्जन होगा, आन्तरिक निस्संगता बढ़ेगी।

यह सच है कि सब की शारीरिक शक्ति समान नहीं होती, इसलिए प्रारम्भ में यथाशक्ति वस्त्रों का त्याग करता है। जो तरुण और स्वस्थ होते हैं वे युवक साधु एक वस्त्र ही रखते हैं, ग्लान या प्रौढ़ साधु तीन वस्त्र रखते हैं।^१

प्रथम भूमिका के किसी साधक को साधनाकाल में कोई रोग उत्पन्न हो जाए और इस बिन्दु तक पहुँच जाए कि उसके लिए असह्य बन जाए, दीर्घ काल तक उस स्थिति में चलने में अपने को समर्थ देखे तो वह संयम की सुरक्षा के लिए वेहासन और गृहपृष्ठ आपवादिक मरण भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में वैसा करना उसके लिए असम्मत नहीं है।

किसी साधक के साधना काल में ऐसा प्रसंग आ जाए कि स्त्री उसे घेर ले और उसके ब्रह्मचर्य को खण्डित करने के लिए तत्पर हो जाए, उस समय यदि वह अपने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आपवादिक मरण का सहारा लेता है तो वह असम्मत नहीं है। ऐसे आपवादिक मरण के अनेक साधन निर्दिष्ट हैं—

विषभक्षण, फाँसी आदि-आदि।

सामान्य स्थिति में यह मरण स्वीकार्य नहीं।

दूसरी भूमिका में साधना करने वाले जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धि या यथालंघिक प्रतिमा-स्वीकृत मुनि होते हैं। प्रतिमा-स्वीकृत स्थविर मुनि इस साधना भूमि में दो वस्त्र—एक सूत का और एक ऊन का तथा एक पात्र रखता है। ग्रीष्म ऋतु में यदि सामर्थ्य हो तो साधक अचेल हो सकता है अन्यथा वह एक वस्त्र रख सकता है।

साधना-काल में किसी मुनि का ऐसा अध्यवसाय हो कि मैं रोग से स्पृष्ट हूँ। उससे मेरी शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई है, अतः मैं भिक्षा लाने में असमर्थ हूँ। उस समय कोई गृहस्थ उसके मुख से सुनकर या उसके भावों को समझकर आहार आदि लाकर दे तो वह निषेध कर दे कि ऐसा सदोष आहार मेरे लिए अग्राह्य है।

यदि कोई नीरोग साधर्मिक साधक (समान साधना करने वाला) उसकी सेवा करे तो वह उसे स्वीकार कर सकता है और स्वस्थ होकर वापस उसकी वैयावृत्त्य कर सकता है।

□

१. जे निगंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिर संघयणे से एगं वर्यं धारेज्जा तो बीयं ।